भय और भरोसा

प्रफुल्ल कोलख्यान

जन के संपर्क में आने के अवसर जीवन यापन के क्रम में आते ही रहते हैं। सामान्य दर्जे की भीड़-भरी रेल यात्रा में भी यह महत्त्वपूर्ण अवसर आता है। बैठने की जगह जुगाड़ने से लेकर खड़े होने के लिए संघर्ष और सामंजस्य के बीच अपने चारों तरफ घट रही अच्छी-बुरी घटनाओं पर लोगों की बे-रोक टीका-टिप्पणी के माध्यम से उनकी मन:स्थिति की झलक मिलती रहती है। परिचय से उपजे किसी भी प्रकार के बद्धमूल पूर्वग्रह से मुक्त मन के साथ होने के कारण रेल-डिब्बा का मनोविज्ञान देश के मनोविज्ञान के एक अध्याय के रूप में भी सहज पठनीय होता है। रेल यात्रा में होनेवाले जनसंपर्क के माध्यम से जनमन को पढ़ना न सिर्फ अपेक्षकृत आसान होता है बल्कि कई बार औपचारिक रूप से किये जानेवाले अध्ययन से कहीं अधिक निश्छल तथा प्रामाणिक भी होता है।

आज लोग अपने घर में भी असुरक्षित हो गये हैं। स्वाभाविक ही है कि घर से निकलना पहले की तुलना में कहीं अधिक जोखिम भरा हो गया है। पता नहीं कब कहाँ क्या हादसा पेश आ जाये, हमेशा मन में आशंका बनी रहती है। डर के इस माहौल में लोग मुँह खोलने से भी बचने की कोशिश करने लगते हैं। किसी यात्रा पर निकलने के पहले घरवाले सावधान करते हैं, 'रास्ते में किसी से उलझने की जरूरत नहीं है, पता नहीं किस के मन में क्या हो! जाने किस बात पर किसकी क्या प्रतिक्रिया हो और वह क्या कर बैठे।' अब इन हिदायतों को 'हिस्स' कहकर टालने का स्वर अब मंद हो गया है। डर के माहौल में न कुछ कहा जा सकता है और न कुछ सुना ही जा सकता है। डर संवादहीनता का सबसे बड़ा कारण होता है। डरे हुए समाज का सदस्य अंदर-ही-अंदर घुटते हुए अंतत: मानसिक रोगी बनकर रह जाता है। समाज में ऐसे मानसिक रोगियों की संख्या बढ़ने लगती है और दूसरों की तकलीफ को समझने या उस से

सहानुभूति रखनेवालों की संख्या निरंतर घटती जाती है। सामान्य असहिष्णुता बढ़ जाती है।

जन्म भले ही मेरा मिथिलांचल में हुआ हो, रोजी-रोटी पश्चिम बंगाल में मिली हो और इसके लिए इनके प्रति मन में कृतज्ञता का भाव चाहे जितना हो, लेकिन अपने जीवन के उठान को मैंने झारखंड के पठार पर ही खिलते देखा है। वहाँ के जंगल, छोटी-छोटी पहाड़ियों, नदियों और टाँड़-टाप्पड़ से ही नहीं जिन्हें अब तक 'दिकू (बाहरी) लोग' अपमान और हिकारत से 'भूरंग' कहते आये हैं उनके मन के रंग के साथ रंग कर ही मेरे मन पर जीवन का आत्मीय रंग चढ़ा है। अपने विकास के स्वप्न-गर्भ में प्राण-शक्ति को साधने में लगे इस नवनिर्मित राज्य झारखंड से होकर अभी-अभी आना हुआ है। इस यात्रा में मैंने पाया कि भीड़, गर्मी की परेशानी, रात के सफर के जाने-पहचाने डर के साथ एक अचीन्हा-सा डर भी लोगों के मन में घर किये हुए है जो उन्हें किसी भी प्रकार के संवाद में आने से रोक रहा है। लोग बिल्कुल चुपचाप थे, संवादहीन होकर भी अपने गंतव्य की ओर बढ़ रहे होने के संतोष के साथ! लोग तब भी खामोश ही रहे जब एक युवती ने भीड़ के दबाव से बिलबिलाते हुए पास के एक सहयात्री पर चीखना शुरू किया। यह बात तो बाद में समझ में आई कि वह बेचारी उन 'नव-जवानों' पर चीखने का जोखिम तो उठा नहीं सकती थी जिन पर चीखना चाहती थी क्योंकि वे लोग तो पास खड़े उसकी चीख का निर्विरोध मजा ले रहे थे। पास का वह सहयात्री भी शायद स्थिति की नजाकत को समझकर उस युवती को चीखने का अवसर दे रहा था, ताकि युवती का भय और बदमाशों का दुस्साहस कुछ तो कम हो सके। यह रेल-डब्बा का ही नहीं हमारे समाज का भी सच है। भय और प्रतिभय की मन:स्थिति हमारे समय की सामाजिक वस्तु-स्थिति बन गई है। इससे बाहर निकलने, इस सामाजिक वस्तु-स्थिति को बदलने के लिए भरोसा करने लायक सामाजिक प्रयास की जगह निरंतर संकुचित होती जा रही है। इस संकोच का नतीजा गहरी सामाजिक दरार की सच्चाई के रूप में सामने आ रहा है। वे मूल्य जो सदियों के संघर्ष और सामंजस्य से मनुष्य के क्रियमान अनुभवकोष में संस्कार के रूप में संचित होते रहते हैं, इस तरह की सामाजिक दरार में समाकर निष्प्राण होने लगते हैं। जिनको अपने पास पाकर समाज को भरोसा होना चाहिए जब उन्हीं को पास पाकर भय होने लगे तब वह समाज,कितने दिन और दूर तक समाज कहलाने का अधिकारी रह जाता है?

प्राकृतिक विपदाओं की त्रासदी के मनोप्रभाव पर चर्चा और मानसिक पुनर्वास की आवश्यकता पर मनोवैज्ञानिक जोर देते रहे हैं। प्राकृतिक विपदाओं की विनाशलीला का मन पर पड़े प्रभाव मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय हो सकता है। सामाजिक सहयोग के माध्यम से उस प्रभाव को कुछ हद तक कम भी किया जा सकता

है, लेकिन प्राकृतिक विपदाओं की विनाशलीला से न सिर्फ जनमन को भीतर से आहत होता है बल्कि तंत्र के तार को भी छिन्न-भिन्न करके रख देता है। तंत्र का तार तो सहज सितार की तरह पहले भी कभी नहीं सजा था, लेकिन तंत्र के तार-तार हो चुकने से जनमन पर पड़े प्रभाव को पढ़ने में शायद मनोविज्ञान भी इस बार डरे। मनुष्य भूत से डरता है और भगवान पर भरोसा कर अपने भय को काबू में करने की कोशिश करता रहा है। लेकिन जब भूत ही भगवान बनकर सामने आ जाये तो? जो सामाजिक शक्ति और संगठन भरोसा का आधार बनाते थे वे सामाजिक शक्ति और संगठन ही भय पैदा कर रहे हैं, मनुष्य किस के पास जाये! बचानेवाला से बड़ा मारनेवाला हो गया है! भय पर्वत के बराबर और भरोसा?

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान